THE TIMES OF INDIA

Date: 29-03-18

Law and marriage

SC must expand women's rights across communities, scrutiny of polygamy and nikah halala welcome

TOI Editorials

Following its judgment invalidating triple talaq, the Supreme Court has now set up a Constitution bench to examine the practices of polygamy and nikah halala, a custom by which a woman has to marry and consummate a marriage with someone else before remarrying her previous husband. The Quran does not encourage these practices, contrary to common perception, but patriarchy gives them social sanction among a few Indian Muslims. Either way, they have no place in our constitutional republic. Whatever form our various family laws have, marriage is a formal union between two individuals with certain rights and obligations, and it must be fair to both partners.

Legal reform should ensure equal rights to men and women across religious communities. The aim should not be to make marriage more binding on unwilling parties, but to make the terms better. Whatever our cultural differences, individual rights are sacrosanct. In a recent judgment on khap panchayats, the Supreme Court has made it clear that no custom or community writ can override the marriage of consenting adults.

Of course, social practices are not easy to extinguish by law alone. Moreover, even our codified family and customary laws disadvantage women in various ways in marriage, divorce, property and so on. Provisions on conjugal rights and adultery and division of matrimonial assets continue to harm women. All of them need to be made compatible with egalitarian constitutional principles. Even as we hope for a comprehensive and common family code that applies to all Indians, irrespective of faith, the courts now have to make sure that nobody is deprived of their rights in the name of religious or social custom.

Right now, the Domestic Violence Act does provide redress to all Indian women across communities, if subjected to polygamy or coercion. But the Muslim women who have petitioned the court want a clear strikedown of these practices within their community. The court must hear and amplify the voices of these women, rather than the patriarchal ulema who appoint themselves the sole spokesmen of the Muslim community. It must also extend that effort to all communities and acknowledge women's agency and rights, no matter what social force stands in their way. No protective father or vengeful partner, no possessive caste or religious order, should stand in the way of individual rights.

THE ECONOMIC TIMES

Date: 29-03-18

In love, the law must prevail over custom

Editorials

One of the banes of 'adult India' is that it is treated as a nation of children by far too many of its 'elders'. The most intrusive example is the obstruction of marriage between two consenting adults. Obstruction become insidious when it takes the form of 'honour killings' — in which members of a family commit murder to avenge some self-manufactured loss of pride when they do not approve of a match.

The Supreme Court on Tuesday put its full weight behind making such gruesome 'social customs' criminal when it declared illegal any attempt by khap panchayats — those gatherings of community elders in northern India that pass social diktats, including opposition to marital matches not arranged by the parents of the bride and the groom —to end a marriage between two consenting adults. This ruling goes beyond the khap.

The court made it clear that any assembly that tries to scuttle a legitimate marriage would be breaking the law. This would mean opposition to inter-faith and inter-caste marriages — or whichever variation of a Montague-Capulet union any group may oppose in this country — will no longer be tolerated. Which means if you want to bang on about bogeys like 'Love jihad', tough. You will face the consequences.

The judgment starts with the line, "Assertion of choice is an insegregable facet of liberty and dignity." It goes on to state, "Feudal perception has to melt into oblivion paving the smooth path for liberty." For these noble words to be hard-wired into practice defying centuries-old custom, more than Supreme Court guidelines is required. Without getting stuck in the brambles of moral relativism of 'cultural nuances', the state must enforce individual liberty in marital choice. India has its fair share of grown-ups. It's time they were treated as such.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 29-03-18

संविधान पीठ पर भारी बोझ कम करने की जरूरत

एम जे एंटनी

आधार को कई सेवाओं के लिए अनिवार्य किए जाने के मामले में उच्चतम न्यायालय का पांच सदस्यीय संविधान पीठ संक्षिप्त सुनवाई कर रहा है। यह सुनवाई 17 जनवरी को शुरू हुई थी और इसके खत्म होने का फिलहाल कोई संकेत नहीं है। अमेरिका जैसे कुछ देशों की तरह मामलों की सुनवाई पूरी करने की भारत में कोई तय समयसीमा नहीं है। इस वजह से सुनवाई महीनों तक चलती रहती है। भारत का कोई भी मुख्य न्यायाधीश अभी तक इस परंपरा को तोड़ नहीं पाया है।

स्वाभाविक तौर पर सुनवाई से जुड़े लोगों का दिमाग भटकने लगता है और वे नतीजों के बारे में अटकलें लगाने लगते हैं।

मुख्य न्यायाधीश एवं संविधान पीठ के मुखिया दीपक मिश्रा के पास कई अन्य महत्त्वपूर्ण मामले भी हैं। आधार मामले के बाद इस पीठ को अत्यधिक महत्त्व वाले नौ अन्य मामलों पर भी फैसले सुनाने हैं। इनमें समलैंगिकों के अधिकार, व्यभिचार को अपराध ठहराने, केरल के सबरीमाला मंदिर में महिलाओं को प्रवेश की इजाजत और चार्जशीट का सामना कर रहे विधायक को अयोग्य ठहराने जैसे मामले काफी अहम हैं। संविधान पीठ के सामने यह मामला भी पहुंचा हुआ है कि अगर कोई पीठ किसी समन्वय पीठ के फैसले को कानून नजरअंदाज करने के चलते निरस्त कर देता है तो क्या होगा? चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों की 'बगावत' के बाद मामलों की सुनवाई का जो रोस्टर जारी किया है, उसके मुताबिक अयोध्या विवाद समेत इन सभी अहम मामलों को मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता वाला पीठ ही देखेगा। इससे कई गंभीर सवाल खड़े होते हैं कि क्या मुख्य न्यायाधीश के अक्टूबर में सेवानिवृत्त होने से पहले इस पीठ की संभावित 60 बैठकों में ये सारे बड़े मामले निपटा लिए जाएंगे?

इस पीठ पर काम का भारी बोझ पडऩे पर कुछ दायित्व दूसरे वरिष्ठ न्यायाधीशों के सुपुर्द किए जा सकते थे। आखिर मामलों की सुनवाई का रोस्टर इंसान ने ही बनाया है। यह भी साफ नहीं है कि क्या खुद मुख्य न्यायाधीश ने ही 'मास्टर ऑफ रोल्स' होने के नाते यह रोस्टर बनाया है या फिर अन्य न्यायाधीशों से भी सलाह ली गई है? उच्चतम न्यायालय की वेबसाइट के मुताबिक मामलों की सुनवाई का क्रम मुकदमा दायर किए जाने की शुरुआती तारीख के आधार पर तय किया गया है। लेकिन इस पीठ के समक्ष सुनवाई के लिए रखे गए मामलों को देखकर यही लगता है कि संवैधानिक महत्त्व वाले 40 मामलों में से उनका चुनाव बेतरतीब तरीके से किया गया है। दशकों से लंबित ये मामले अभी भी धूल खा रहे हैं। उनमें से कुछ मामले औद्योगिक विवाद अधिनियम के तहत 'उद्योग' की व्याख्या और संपत्ति के अधिकार से संबंधित हैं। अगर क्रमिकता ही पैमाना होती तो इन मामलों पर वर्षों पहले सुनवाई हो जानी चाहिए थी। अगर पैमाना अहमियत है तो फिर सोशल मीडिया में निजता का मुद्दा और न्यायपालिका में सूचना का अधिकार जैसे मामलों को प्राथमिकता देनी चाहिए थी। लेकिन जिस तरह से मामलों का चयन किया गया है और उनका वितरण किया गया है उससे अपारदर्शिता के आरोपों को बल मिलता है। इस तरह वरिष्ठ न्यायाधीशों ने अहम मामलों के आवंटन को लेकर जो आरोप लगाए थे उनकी भी एक हद तक पुष्टि होती है।

एक बार फिर लंबे समय तक चलने वाली सुनवाई की ओर लौटते हैं। ऐसा हो ही नहीं सकता है कि उच्चतम न्यायालय को अपने इतिहास के अरुचिकर प्रकरणों की जानकारी न हो। केशवानंद भारती के बहुचर्चित मामले की सुनवाई 1972-73 में पांच महीनों तक चली थी और तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश के कार्यकाल के अंतिम दिन जल्दबाजी में फैसला सुना दिया गया। उस मामले की सुनवाई करने वाले 13 सदस्यीय पीठ के सबसे कनिष्ठ न्यायाधीश वाई वी चंद्रचूड़ ने अपने फैसले में कहा था, 'वकील लंबी सुनवाई में इतना वक्त लगा चुके थे कि उनके पास हमारे सामने अपना पक्ष रखने के लिए वक्त ही नहीं रह गया था। मुख्य न्यायाधीश के सेवानिवृत्त होने से न्यायालय की क्षमता घटेगी और इसी बात ने फैसले की तारीख मुकर्रर कर दी है। इस वजह से फैसले के मसौदे के आदान-प्रदान का भी पर्याप्त समय नहीं मिल पाया है।'

हालांकि यह अपनी तरह का अनूठा मामला नहीं है। वर्ष 2013 में भी न्यायमूर्ति अनिल दवे ने मेडिकल प्रवेश परीक्षा (नीट) मामले में कहा था कि उन्हें 'त्वरित और संक्षिप्त' होना पड़ा क्योंकि तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश सेवानिवृत्त होने

वाले थे और उनके पास अपने सहयोगियों से विमर्श करने का अधिक समय नहीं था। न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने अपनी सेवानिवृत्ति के दो दिन पहले शहरी क्षेत्र में जमीन की सीलिंग पर जल्दबाजी में कुछ पंक्तियां लिखने की बात कही थी। पुराने लोग बताते हैं कि न्यायमूर्ति एम एम पंछी और न्यायमूर्ति वी खालिद ने भी ऐसे हालात में कुछ ऐसी ही टिप्पणियां की थीं।

इस जल्दबाजी की वजह यह होती है कि अगर किसी मामले की सुनवाई कर रहे पीठ का एक भी सदस्य सेवानिवृत्त हो जाता है तो उस मामले में फैसला नहीं सुनाया जाता है। वैसी स्थिति में पूरे मामले की सुनवाई एक नए पीठ को करनी होगी। आम तौर पर इस तरह के हालात से बचने की कोशिश होती है। हाल ही में एक ऐसा वाकया सामने आया जब एक न्यायाधीश फैसले लिखे बगैर ही सेवानिवृत्त हो गए। एक अन्य मामले में एक न्यायाधीश ने चुनाव लडऩे की जल्दबाजी में अपने फैसलों का मसौदा फाइल में ही छोड़ दिया था। एक मुख्य न्यायाधीश पर अंतिम दिनों में बीमारी का बहाना करके अस्पताल में भर्ती होने का संदेह भी जताया गया था। वजह यह थी कि साथी न्यायाधीशों की राय उनके खिलाफ जा रही थी।

बहरहाल अब भी मुख्य न्यायाधीश दीपक मिश्रा के पास समय है कि वह संविधान पीठ के भारी बोझ को कम करें और कुछ मामले वरिष्ठ न्यायाधीशों के सुपुर्द करें। यह सच है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच जारी तनातनी के चलते शीर्ष अदालत में न्यायाधीशों की संख्या कम हो चुकी है। ऐसे मुश्किल भरे समय में एक स्वस्थ परंपरा शुरू करने का मुख्य न्यायाधीश के सामने यह एक सुनहरा अवसर है।

Date: 29-03-18

आसान नहीं

संपादकीय

पर्यावरण मंत्रालय ने इलेक्ट्रॉनिक कचरे (ई-वेस्ट) और बायो मेडिकल कचरे के प्रबंधन के लिए नए नियम अधिसूचित किए हैं। ये पिछले नियमों से बेहतर अवश्य हैं लेकिन कुछ अहम मुद्दों पर वे कमजोर पड़ गए हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि लक्ष्यों को शिथिल करने के बावजूद उनका क्रियान्वयन कठिन बना रहेगा। इलेक्ट्रॉनिक और चिकित्सा संबंधी कचरे मानव स्वास्थ्य और पर्यावरण दोनों के लिए बहुत नुकसानदेह होते हैं। इसलिए उनको बहुत सुरक्षित और वैज्ञानिक तरीके से निपटाने की आवश्यकता होती है। परंतु मौजूदा क्षमता और इस क्षेत्र में विशेषज्ञता काफी सीमित है।

इस कचरे का एक बड़ा हिस्सा या तो अनुपचारित ही पड़ा रहता है या फिर असंगठित क्षेत्र के लोग इसे निहायत गैर पेशेवर अंदाज में निपटाते हैं। ई-वेस्ट प्रबंधन के मामले में सरकार ने विस्तारित उत्पादक जवाबदेही के तहत तय लक्ष्यों को शिथिल कर दिया है। इसका फायदा उन उत्पादों के संग्रह और निपटान में मिलेगा जिनके इस्तेमाल की अवधि समाप्त हो चुकी है। इलेक्ट्रॉनिक वस्तुओं के निर्माता, आयातकों और अन्य आपूर्तिकर्ताओं को अब पहले साल यानी वर्ष 2017-18 में अपने कुल कचरे का 10 फीसदी निपटाने की जवाबदेही रहेगी। इसके बाद 2023 तक यह हर साल 10 फीसदी बढ़ेगी। सन 2023 के बाद सालाना लक्ष्य 70 फीसदी होगा। हालांकि उद्योग जगत ने इन नए लक्ष्यों का स्वागत

किया है लेकिन कुल मिलाकर स्वास्थ्य और पर्यावरण से जुड़े जोखिम कम करने का लक्ष्य इससे आंशिक रूप से ही हासिल होगा। जो कचरा निपटाया नहीं जाएगा वह जमा होता रहेगा क्योंकि व्यक्तिगत तौर पर और छोटे पैमाने पर इनका इस्तेमाल जारी रहेगा। ऐसे लोग लाखों की तादाद में हैं।

असंगठित क्षेत्र को इसे निपटाने के लिए बड़े पैमाने पर काम करना होगा। जरूरत इस बात की है कि निजी कचरा उपचार उद्यमों को उभरने में मदद की जाए और उन्हें बढ़ावा दिया जाए। इसके अलावा बेकार पड़े इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों के उचित निस्तारण के लिए कचरा बटोरने वालों को व्यापक प्रशिक्षण देने की भी आवश्यकता है। बायोमेडिकल कचरा इंसानों और जानवरों के स्वास्थ्य के लिए ई-कचरे से भी अधिक नुकसानदेह हो सकता है। वहां भी हाल यही है। सरकार ने अपनी नई नीति में क्लोरिनेटेड प्लास्टिक बैग, दस्तानों और ब्लड बैग के रूप में ऐसा कचरा उत्पादित करने वाली चीजों के निपटान के लिए और वक्त दिया है। इसके अलावा विश्व स्वास्थ्य संगठन के दिशानिर्देश के अनुरूप ही इसे संक्रमणहीन करने की सुविधा भी स्थापित की जा रही है। अस्पताल, पशु चिकित्सालय तथा अन्य स्वास्थ्य केंद्रों आदि को एक वर्ष का समय दिया गया है कि वे बार कोडिंग और ग्लोबल पोजिशनिंग सिस्टम के साथ ऐसी व्यवस्था बना लें ताकि केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के दिशानिर्देशों के मुताबिक जरूरत पडऩे पर उनके चिकित्सकीय कचरे को ट्रैक किया जा सके। ऐसा इसलिए किया गया है ताकि चिकित्सा क्षेत्र को भी कचरा निपटान के नए दिशानिर्देशों का क्रियान्वयन करने में दिक्कत न हो और उनकी सेवाएं बाधित न हों।

बहरहाल, इसमें संदेह ही है कि वे दिए समय में ऐसा कर भी पाएंगे या नहीं। स्वास्थ्य उद्योग से जुड़े कई लोगों का मानना है कि क्लोरिनेटेड प्लास्टिक बैग का कोई उचित विकल्प मौजूद ही नहीं है। यह बैग जलाने पर जहरीली गैस निकालता है। बार कोडिंग और जीपीएस ट्रैकिंग भी बड़े सरकारी और निजी अस्पतालों के अलावा अधिकांश लोगों के लिए कठिन हो सकती है। इसके अलावा दूरदराज इलाकों में इंटरनेट सेवाओं की कमी एक अलग बाधा है। चाहे जो भी हो लेकिन छोटे पैमाने पर काम करने वाली इकाइयों को उदार सरकारी मदद की जरूरत हो सकती है। यह मदद तकनीकी भी होगी और वित्तीय भी। चाहे जो भी हो संक्रमण फैलाने वाले चिकित्सकीय कचरे को सामान्य कचरे में मिलने से रोकने के उपाय करने होंगे। यह बहुत कठिन काम है।

दैनिक भास्कर

Date: 29-03-18

जॉब पैदा करने हैं तो ये तीन सुधार करने होंगे

नई पीढ़ी को उचित रोजगार नहीं दे सके तो राष्ट्र के रूप में हमारी यह सबसे बड़ी नाकामी होगी।

चेतन भगत

भारत में रोजगार की स्थिति पर मेरे अकाउंट से किए ट्विटर सर्वे (वैज्ञानिक नहीं, अनौपचारिक इसलिए हमेशा की तरह शर्तें लागू) में 20 हजार से ज्यादा लोगों ने भाग लिया। दो प्रश्न पूछे गए। एक, किसी औसत ग्रेजुएट के लिए जॉब हासिल करना कितना कठिन है? 87 फीसदी ने इसे कठिन से लेकर बहुत कठिन बताया। यदि कॉलेज ग्रेजुएट की यह हालत है तो इससे कम योग्यता वालों का क्या हाल होगा।

दूसरा प्रश्न था, 'किसी औसत ग्रेजुएट का शुरुआती अपेक्षित वेतन क्या है?' करीब 61 फीसदी ग्रेजुएट ने जवाब दिया कि उन्हें प्रतिमाह 5 से 15 हजार रुपए वेतन की अपेक्षा है। ट्विटर पर अंग्रेजी में किए सर्वे के ये नतीजे हैं, जिनका जवाब तुलनात्मक रूप से अधिक परिष्कृत वर्ग ने दिया है। स्थिति खतरनाक है। मैकिंजी की एक रिपोर्ट के मुताबिक जब 2013-15 में भारत का जीडीपी 7 फीसदी सालाना दर से बढ़ रहा था, तब भी रोजगार वृद्धि सिर्फ 1.7 फीसदी सालाना थी। मसलन, कानपुर नगर निगम में 3,275 सफाई कर्मचारियों की नियुक्ति के लिए 7 लाख आवेदन प्राप्त हुए। इनमें से 5 लाख ग्रेजुएट और पोस्ट ग्रेजुएट थे। पिछले माह ग्रुप सी और डी या निचले दर्जे के 1 लाख जॉब के लिए रेलवे को 2 करोड़ आवेदन प्राप्त हुए। देशभर में यात्रा के दौरान मैं देखता हूं कि कई युवा उचित रोजगार की तलाश में भटकते रहते हैं। बहुत सारे शिक्षित युवा माता-पिता के साथ ही रहते हैं व अपना दिन स्मार्टफोन पर यूट्यूब वीडियो देखकर, सोशल नेटवर्क पर बतियाकर बिताते हैं। उन्हें ऐसे जॉब की हसरत होती है, जो हैं ही नहीं। सरकार चाहे जो सोचती हो पर वे सिर्फ 'पकोड़ावाला' बनकर खुश होने को राजी नहीं हैं। मीडिया, विज्ञापनदाताओं, इंटरनेट तक पहुंच और राजनेताओं द्वारा किए गए अतिशयोक्तिपूर्ण चुनावी वादों ने युवाओं में विशाल, अपूर्ण अपेक्षाएं पैदा कर दी हैं। पहले मोहभंग होगा और फिर इसके कुंठा व गुस्से में बदलने का असली जोखिम है, जिसके कारण अपराध, अशांति, नफरत और अस्थिरता बढ़ेगी। इस जॉब संकट के कई कारण हैं। एक कारण तो ऑटोमेशन है, जो सरकार अथवा नागरिकों के तात्कालिक नियंत्रण में नहीं है। मसलन, ऑनलाइन शॉपिंग रिटेल और साथ में इसके रोजगार को चौपट कर रही है। ऑनलाइन बैंकिंग और एटीएम बैंक शाखाओं के जॉब खत्म कर रहे हैं। यह सूची लंबी है। देश यदि कोई कदम उठा सकता है तो वह है अत्याधुनिक इनोवेशन को पुरस्कृत करे।

इससे यह सुनिश्चित होगा कि यदि नई टेक्नोलॉजी जॉब खत्म भी करे तो हम इसके शीर्ष पर हों और टेक्नोलॉजी जो नए जॉब निर्मित कर रही है उसका लाभ उठा सकें। लेकिन, हम तो वंशवाद, संपर्क और यारी-दोस्ती वाले पूंजीवाद को पुरस्कृत करते हैं। इनोवेशन को पुरस्कृत करने वाले समाज की रचना बिल्कुल अलग ढंग से होती है। इसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता बहुत होती है और सबके लिए सफल होने के निष्पक्ष व समान अवसर उपलब्ध होते हैं। अब हम उन तत्वों पर आते हैं, जिन्हें हम कंट्रोल कर सकते हैं। इन पर इसी वक्त काम करना होगा ताकि रोजगार की स्थिति बदली जा सके। इन तीन मुख्य क्षेत्रों में हम नाकाम हुए हैं। एक, सबसे बड़ा कारण यह है कि हमने सरकार व निजी क्षेत्र के रिश्ते बिगाड़ दिए हैं। बहुत गहराई में हर भारतीय नेता और आईएएस बाबू इसे बहुत पसंद करता है कि कोई अरबपति उनके पास हाथ जोड़ता हुआ आए। 'देखा इतना अमीर आदमी भी मेरे आगे झुकता है,' यही इसका मजा है। इसने सरकार व निजी क्षेत्र के रिश्तों को भयावह रूप दे दिया है। ऐसे कानून हैं, जिनका इस्तेमाल किसी भी बिजनेस मालिक को परेशान करने के लिए किया जा सकता है। उन्हें चुने हुए तरीके से लागू किया जाता है ताकि निजी बिज़नेस को काबू में रखा जा सके।

पिछले कुछ वर्षों में खासतौर पर यह रिश्ता और खराब हुआ है। नोटबंदी और जीएसटी ने सिर्फ अस्थायी आर्थिक मंदी को ही जन्म नहीं दिया बल्कि बिज़नेस मालिकों में यह खौफ पैदा कर दिया है कि वे हमारे पीछे पड़ गए हैं। इसके कारण बिज़नेस मालिक भारत में बड़ा निवेश करने के पहले सैकड़ों बार सोचता है, क्योंकि किसी गुमनाम से सरकारी विभाग से कोई अनजान आदमी डंडा लेकर हाजिर हो जाएगा। हो सकता है कि वह इतनी जोर से डंडा घुमाए कि बिज़नेस ही चलने लायक न रहे। इसलिए क्यों जोखिम मोल लें? उदाहरण के लिए आज भारत में रियल एस्टेट सेक्टर चरमरा गया है। रेरा अधिनियम कुछ स्वरूप में आवश्यक हो सकता है पर वह बिल्डर के लिए कष्टदायक है। कर बहुत अधिक है। खरीदार टैक्स चुकाने के बाद की आमदनी से फ्लैट खरीदता है, वह जीएसटी चुकाएगा फिर स्टैम्प ड्यूटी तो है ही। ऐसे में कोई सेक्टर कैसे फल-फूल सकता है? दो, हमारी मैन्युफैक्चरिंग ऊपर नहीं उठ सकी। 'मैक इन इंडिया' नहीं चला। सरकार व निजी क्षेत्र का बिगड़ा रिश्ता इसका एक अंग है। दूसरा है भूमि अधिग्रहण अधिनियम पारित न होना। जब तक देश के भीतरी भागों में फैक्ट्री लगाना आसान नहीं होगा, तब तक दूसरी-तीसरी श्रेणी के शहरों में जॉब निर्मित नहीं होंगे।

तीन, हमारी शिक्षा व्यवस्था। जहां काम के रिक्त पदों की समस्या है वहीं प्रशिक्षित छात्रों का अभाव दूसरा बड़ा कारण है। 'अच्छी तरह से शिक्षितों' में अपेक्षाएं बढ़ने के साथ संदिग्ध कॉलेज मशरूम की तरह उग आए हैं। छात्र वहां से निरर्थक डिग्रियां लेकर बाहर आते हैं। वे वर्कफोर्स में शामिल होने लायक नहीं रहते। 'लाभ कमाने' वाले यूनिवर्सिटी और विदेशी यूनिवर्सिटी के परिसरों को अनुमति न देने के फैसले से संदिग्ध लोगों को सेक्टर पर राज चलाने का मौका मिल गया। यदि हम जानबूझकर निरर्थक ग्रेजुएट पैदा कर रहे हों तो कोई अचरज नहीं कि उद्योग उन्हें लेने को तैयार नहीं हैं।

कुल मिलाकर हमें असली सुधारों की जरूरत है, जिसमें यह भी शामिल है कि सरकार अक्षरश: पीछे चली जाए और निजी क्षेत्र को बढ़ने और सांस लेने दे। हमारी शिक्षा प्रणाली को भी इस तरह ढालना होगा कि हमारी महत्वपूर्ण कंपनियों को इससे फायदा मिल सके और शिक्षा क्षेत्र के दिग्गज इसमें प्रवेश करें ताकि संदिग्ध लोग बाहर हो जाएं। जॉब सिर्फ पेट भरने का जरिया नहीं है। यह व्यक्ति की पहचान का बड़ा हिस्सा हो सकता है। यदि हम अपनी नई पीढ़ी को जॉब नहीं उपलब्ध नहीं करा सकते, तो एक राष्ट्र के रूप में हम नाकाम हो जाएंगे। भारतीय युवा इससे बेहतर स्थिति के हकदार हैं।

जनसत्ता

Date: 28-03-18

सुनवाई से आस

संपादकीय

तलाक-ए-बिद्दत यानी तीन तलाक मामले में अपने फैसले के सात महीने बाद सर्वोच्च न्यायालय अब बहुविवाह और निकाह हलाला की संवैधानिकता पर सुनवाई करने को राजी हो गया है, तो यह पिछले फैसले की ही तार्किक कड़ी है। पिछले साल अगस्त में दिए अपने फैसले में संविधान पीठ ने तीन तलाक प्रथा को गैर-कानूनी ठहराया था। अब एक बार फिर मामले की गंभीरता को देखते हुए याचिकाओं पर सुनवाई संविधान पीठ करेगा। इन याचिकाओं में मांग की गई है कि मुसलिम पर्सनल लॉ (शरीअत) आवेदन अधिनियम, 1937 की धारा 2 को संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 21 और

25 का उल्लंघन करने वाला करार दिया जाए। मुसलिमों से संबंधित निजी कानून मुसलिम पुरुष को चार स्त्रियों तक से विवाह करने की अनुमति देता है। ऐसी इजाजत स्त्री की गरिमा के खिलाफ है, उसे वस्तु या इंसान से कमतर प्राणी में और पुरुष को उसके मालिक के रूप में बदल देती है। यह संवैधानिक मूल्यों और संवैधानिक प्रावधानों के भी खिलाफ है। संविधान का अनुच्छेद 14 कानून के समक्ष समानता की गारंटी देता है, वहीं अनुच्छेद 21 में गरिमापूर्ण ढंग से जीने के अधिकार की बात कही गई है। ऐसे ही प्रावधानों के खिलाफ होने के कारण जिस तरह तलाक-ए-बिद्दत पर हमेशा सवाल उठते रहे, उसी तरह एक से अधिक शादी करने की इजाजत और निकाह हलाला पर भी उठते रहे हैं।

मुसलिम समुदाय में हलाला या निकाह हलाला की रस्म के तहत, जिस व्यक्ति ने तलाक दिया है उसी से दोबारा शादी करने के लिए महिला को पहले किसी अन्य पुरुष से शादी करनी होती है और फिर तलाक लेना होता है, उसके बाद ही दोबारा पूर्व पति से शादी हो सकती है। शरीअत में भले यह एक तरह की 'सजा' हो, लेकिन क्या पूर्व पत्नी की तरह पूर्व पति के लिए भी ऐसी शर्त रखी गई है? और फिर जब अलग हो चुके दो बालिग फिर से जुड़ना चाहते हैं, तो उनकी मर्जी और निर्णय काफी होना चाहिए। उन्हें किसी सजा से क्यों गुजरना पड़े? और 'सजा' के रूप में औरत के लिए ऐसी शर्त, जो उसके शरीर पर उसका अधिकार नहीं रहने देती! जाहिर है, ऐसी प्रथाओं को निजी कानून की आड़ में नहीं चलने दिया जाना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने मुता निकाह और मिस्यार निकाह को भी सुनवाई के योग्य माना है, क्योंकि इनके तहत बस एक निश्चित अवधि के लिए शादी का करार होता है। क्या इसे शादी कहा जा सकता है? तलाक-ए-बिद्दत पर बहस के दौरान ऑल इंडिया मुसलिम पर्सनल लॉ बोर्ड ने मामले को न्यायिक समीक्षा के परे कहा था। उसकी निगाह में ऐसे मामले में अदालत में सुनवाई होना धार्मिक स्वायत्तता में हस्तक्षेप था। यह अलग बात है कि अलग-थलग पड़ जाने के कारण बोर्ड ने बाद में अपने सुर नरम कर लिए थे। हो सकता बोर्ड और कुछ दूसरी संस्थाएं एक बार फिर वैसी ही दलील पेश करें।

यह सही है कि हमारे संविधान ने धार्मिक स्वायत्तता की गारंटी दे रखी है, पर यह असीमित नहीं है। धार्मिक स्वायत्तता उसी हद तक मान्य हो सकती है जब तक वह संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक नागरिक अधिकारों के आड़े न आए। सती प्रथा, नरबलि और जल्लीकट्टू जैसी प्रथाओं के मामलों में भी सर्वोच्च न्यायालय हस्तक्षेप कर चुका है। इसलिए बहुविवाह, निकाह हलाला, मुता निकाह और मिस्यार निकाह पर सुनवाई के लिए संविधान पीठ गठित करने के उसके फैसले को समुदाय-विशेष की धार्मिक आजादी और परंपरा या रिवाज में बेजा दखलंदाजी के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। इसे समानता तथा न्याय के लिए मुसलिम स्त्रियों के संघर्ष के नए मुकाम के रूप में देखना ही सही नजरिया होगा।